

लम्हा लम्हा

दीप्ती नवल

لمحہ لمحہ

"Live life your way!"

Love to Najam.

Deepti Naval

Aug 5, 1989

लम्हा लम्हा

पराग प्रकाशन, दिल्ली-३२

दीप्ती नवल

लम्हा लम्हा

मूल्य : बीस रुपये / तृतीय संस्करण, १९८४ / प्रकाशक : पराग प्रकाशन, ३/११४, कर्ण गली, विश्वासनगर, शाहदरा, दिल्ली-३२ / मुद्रक : कोणार्क प्रिंटर्स द्वारा रूपाभ प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-३२

LAMHA LAMHA : Deepti Naval [redacted]

'मामां—पित्ती' के नाम

सर्द ! तनहाई की रात
और कोई
देर तक चलता रहा
यादों की बुक्कल ओढ़े

एक बात जो फौरन लब पर आती है दीप्ती की नज्में पढ़ने के बाद, वो यह है कि दीप्ती अच्छी शायरा हैं और बहुत अच्छी शायरा होने की सलाहीयत रखती हैं। अगर सिर्फ नज्में पढ़कर कोई शायर की शख्सीयत जानने की कोशिश करे तो लगेगा यह शायरा बहुत उदास रहती हैं, जिस्मानी तौर पे बहुत कमजोर होंगी, और अकसर बीमार रहती हैं या किसी लम्बी बीमारी से गुजरी हैं। लेकिन मैं क्योंकि जाती तौर पर जानता हूं उन्हें, इसलिए कह सकता हूं दीप्ती बिलकुल इसके बर-अकस हैं। सेहतमंद हैं, खुशमिजाज हैं, जिन्दगी से बहुत लगाव है, बहुत ऐम्बिशस हैं और कभी उदास हों तो उसका उतना ही मजा लेती हैं जितना हंसने-खेलने का। उनकी शख्सीयत का चमकीला और शोख हिस्सा उनकी नज्मों में कहीं नजर नहीं आता। उनकी ख्वाबी कैफीयत तकरीबन हर नज्म में झलकती है। इसलिए उनकी नज्में पढ़ते हुए मैं दोनों शख्सीयतों को साथ-साथ देखता हूं। हमेशा यही महसूस किया है कि एक दीप्ती अपने अन्दर की दूसरी दीप्ती को खुद से अलग करके देख रही है। और फिर नज्म पढ़ते हुए आहिस्ता-आहिस्ता जैसे कैमरे का फोकस ठीक हो जाता है और एक इमेज दूसरी इमेज में समा जाती है, ठीक उसी तरह दीप्ती के ख्वाब आहिस्ता-आहिस्ता फोकस में आते हैं और हकीकत नजर आने लगते हैं।

लफ्जों का चुनाव और उनका आहंग दीप्ती की शायरी की खुसूसियत है। Images बहुत नाजुक और transparent लगती हैं।

—आसमानों में बुझे हुए ख्वाबों का धुआं-सा
—जब बहुत कुछ कहने को जी चाहता है ना
तब कुछ भी कहने को जी नहीं चाहता
—कांगड़ी में आंच अभी बाकी है
और आस-पास···कोई नहीं···

अल्लाह करे जोरे-कलम और ज्यादा।

गुलज़ार

बस यूं ही कुछ-कुछ लिखा करती थी। शायरी करूंगी···यह तो कभी सोचा ही नहीं था। और वो 'कुछ-कुछ' जो लिखती रहती थी, कभी किसी सहेली, किसी दोस्त को सुना देती, वरना अपने तक ही रह जाता। एक रोज फोन पर कुछ पढ़कर सुनाया तो किसी ने कहा—

"अरे! यह तो नज्म है···
शायरी है यह!"

उसी रोज से जिस किताब पर 'डायरी' लफ्ज लिख रखा था, उसी के आगे दो लफ्ज और जुड़ गये—
'नज्मों की' डायरी

शुरुआत यूं हुई···
कोई लम्हा,
कोई आवाज,
कोई नाम,
कोई ख्वाब,
कोई पहचान,
या दर्द कोई···
जिन्दगी में जो कुछ भी करीब से छूकर गुजरा है, उन तजुर्बों की सारी रसीदें इकट्ठी करके इस किताब में दर्ज कर रही हूं।'

दीप्ती

क्रम

लम्हा लम्हा

पगडंडियां

यहां से 'नग्गर' तक

लम्हा लम्हा

मैंने देखा है दूर कहीं परबतों के पेड़ों पर
शाम जब चुपके-से बसेरा कर ले
और बकरियों का झुण्ड लिये कोई चरवाहा
कच्ची-कच्ची पगडंडियों से होकर
पहाड़ के नीचे उतरता हो
मैंने देखा है जब ढलानों पे साये-से उमड़ने लगें
और नीचे घाटी में
वो अकेला-सा बरसाती चश्मा
छुपते हुए सूरज को छू लेने के लिए भागे
हां, देखा है ऐसे में और सुना भी है
इन गहरी ठंडी वादियों में गूंजता हुआ कहीं पर
बांसुरी का सुर कोई…
तब
यूं ही किसी चोटी पर
देवदार के पेड़ के नीचे खड़े-खड़े
मैंने दिन को रात में बदलते हुए देखा है !

कभी-कभी बरसातों में
अकेले ही कहीं चल देती हूं मैं
नंगे पांव
किसी मैली-सी, ख़ामोश-सी तंग सड़क पर
कहां जाना है ?
मालूम नहीं···
कोई मंजिल ?
क्या पता···
बस यूं ही निकल पड़ती हूं
खुद को साथ लेकर
कुछ बातें कहने
कुछ बातें सुनने
दूर-दूर तक कोई नहीं
पानी में डूबे हुए सड़क के दोनों तरफ़
सरसों के वही खेत हैं बस
और हां !
वो उधर क्षितिज पर, खेतों के परे
किसी गांव के मिट्टी के घरों में जलती है
कोई धुंधली-सी रोशनी
बरसात की बूंदों से छनकर जो आती है मुझ तक
इस रोशनी का, बोलो
मेरे रास्ते में क्या काम ?

कल
रात के पिछले पहर
नींद में डूबी हुई तमाम क़ायनात थी
आसमान यूं गुमसुम, बेजान, नावाक़िफ़-सा
जैसे सन्नाटों का कोई सागर हो
फैला हुआ ज़मीं पर
नींद से भारी पलकें थीं सितारों की
आंख लग गयी थी चांद की जरा-सी
यह घर
यह छतें
दीवारें
दहलीज़ें
जैसे क़बरें थीं सहमी-सिमटी हुईं
ज़मीं की अंधेरी चादर में लिपटा यह शहर
कोई क़ब्रिस्तान था जैसे
रात के पिछले पहर
कल रात छत पर मैंने जागती आंखों से देखा
मौत का ख़ामोश चेहरा !

धीरे से कुछ कहकर बदली में छुप जाता है वो चांद
निखरा-निखरा-सा है
बरसात के बाद
आसमान का चेहरा
चांदनी में धुली-धुली पत्तों की भीगी शाखें
झुकी जाती हैं ज़मीं पर
कई नामों से जैसे बुला रही हों मुझको
हवा यह पाक-सी महकी हुई
पेड़ों में बहती है जब-जब
मोती-से गिरते हैं पत्तों के किनारों से
रात कोई जादू लिये दामन में
चुपके-से चली आयी है मेरी खिड़की के बाहर
कहती है—
'बन्द कमरे की घुटन में कब तक जी सकोगी ?
कागज़ पर महज़ शेर लिखना भी कोई तसल्ली है !"

जाने कब से
शायद अज़ल से यूं ही चल रही है यह रेल
मैले-मैले-से डिब्बों में
वक़्त की धूल जमती जाती है
कभी कोई मुसाफ़िर चढ़ता है कहीं से
कुछ देर बैठता है किसी अंधेरे-से डिब्बे में
और कभी कोई
अकेला-सा
चुपचाप उतर जाता है कहीं
ख़ामोश-से कोई प्लेटफ़ार्म पर
कई हाथों के निशान हैं यहां
कितने ही पैरों के मैले धब्बे
मगर ठहरता कोई नहीं···कोई भी
इस पुरानी-सी रेल में
दिन-रात बस यूं ही चलती जाती है यह
बोझल-बोझल-सी पटरियों पर
इसी रफ़्तार से न जाने कहां···

सामने शीशे पर जमी गर्द के पीछे
धुंधला-सा कोई अक्स है
खुद को यहां देखकर सहम गयी हूं
यह कैसा सफ़र है···
कहां जा रही हूं मैं !

ख़यालों के कुछ धागे
उलझे-उलझे
यादों के कुछ मोती
बिखरे-बिखरे
किसी किताब में
सूखा हुआ फूल कोई
किसी पन्ने में
कोई पुरानी-सी तसवीर है
कुछ नज़्में
आधी-अधूरी-सी
रूठ गयी हैं कलम से
लिखते-लिखते
आवाज़ कोई
दिल के खामोश मीनारों में
गूंजा करती है अक़सर
तन्हा चलते-चलते
पथरा के रह गये हैं
पलकों के किनारों पर
ख्वाब कई
अश्क़ बनते-बनते

नादान था कोई
जो पूछ रहा था मुझसे
ज़िन्दगी के मानी !

रेगिस्तान की रात है
और आंधियां-सी
बनते जाते हैं निशां
मिटते जाते हैं निशां
दो अकेले-से कदम
ना कोई रहनुमा
ना कोई हमसफ़र
रेत के सीने में दफ़न हैं
ख्वाबों की नर्म सांसें
यह घुटी-घुटी-सी नर्म सांसें ख्वाबों की
थके-थके दो कदमों का सहारा लिये
ढूंढ़ती फिरती हैं
सूखे हुए बयाबानों में
शायद कहीं कोई साहिल मिल जाए···

रात के आखिरी पहर से लिपटे इन ख्वाबों से
इन भटकते कदमों से
इन उखड़ती सांसों से
कोई तो कह दो !
भला रेत के सीने में कहीं साहिल होते हैं···?

'आंचल से लिपटे अजनबी हवाओं के लम्स
दूर किसी गिरजे में शाम की घंटियां-सी…'

शफ़क़ के सुनहरे खेतों के उस तरफ़
मैले-से टीले के करीब-करीब
इक उजाड़-सा है, टूटा हुआ, क़दीम मंदिर
मैं यूं ही हर बार चली आती हूं यहां
कच्ची राहों से गुज़र कर
आबादी से परे, इस छोटे-से खंडहर तक
टीले से सटी दीवार पे लिखे हैं
बुझे-बुझे-से कुछ नाम
गोया शब-भर के मुसाफ़िर
अपने निशान छोड़ गये हों…
और मैं
दरवाज़े की आड़ में छुपकर देखा करती हूं
पत्थर के इस तन्हा साये को
ना फूल चढ़ाये हैं कभी
ना सजदा ही किया है
महज़ देखा करती हूं देर तक
मुक़द्दस इस बुत को
और शफ़क़ के सुनहरे खेतों को पार करके
हर बार यूं ही चली आती हूं यहां
दीवार पर लिखे नामों में अपना नाम ढूंढ़ा करती हूं !

'आंचल से लिपटे अजनबी हवाओं के लम्स
दूर किसी गिरजे में शाम की घंटियां-सी…'

अंधेरी-सी रात में पहाड़ के कोने-कोने
कोई लम्बी-सी
बल खाती
तन्हा सड़क पर
वो देर तक चलते रहना…
पुर-असरार चोटियों में आबशारों का मचलना
वो हमक़दम घटाएं
वो बरसात का झिझकना
फ़ज़ा में पिघलते हुए कोहरे का वो आलम
इबादत में हों ज़मीं-आसमां जैसे
वो नूर की बूंदें
वो ज़ुल्मतें
वो आहटें
और भीगे हुए फ़लक की तारीकियों में कहीं
इक सितारे का वो शब-भर जलते रहना
अल्लाह !
याद बन गया है कोई तिलिस्मी लम्हा
काश, इस लम्हे में कहीं तुम भी शामिल होते !
काश, इस लम्हे में कहीं तुम भी शामिल होते !

पूछ बैठता है कोई जब भूले से कभी…नाम मेरा
ख़ामोश लफ़्ज़ों में कहा करती हूं
'वो देखो !
धुंध में लिपटी वादी के कोने में दूर कहीं
इक रोशनी जो यूं ही जला करती है
पहचान है मेरी
या किसी बयाबान जंगल के धुंधलके से गुज़रते हुए
कभी देखा होगा
वो सुलगता हुआ अलाव
करीब से जिसके उठकर खानाबदोश चले गये हों
और उस अंधेरे से पहाड़ की चोटी पर
मंदिर की दहलीज़ पर जलता हुआ चिराग़ हूं मैं
जिस तक जाते तो हैं मुसाफ़िर
मगर ठहरते नहीं
या फिर भीगी हुई-सी रात में
सुनसान सड़क के किनारे
झोंपड़ी की चौखट पे जलती लालटेन की लौ
वही तो हूं मैं
हां, वही
वो अंधेरों की पनाह में जलती-बुझती शमा-सी…

तुम चाहो तो 'दीप्ति' कह के बुला लो मुझको'

रात-भर पानी बरसता रहा है खिड़की के शीशे पर
आंधियां भी उठी हैं नींद में कहीं
सामने टंगी तसवीर सरककर गिरने ही वाली है
नज़्मों की किताब औंधी पड़ी है चादर पर
सफ़ेद पन्ने बिखरे हुए हैं फर्श पे हर तरफ
इस डिब्बे को खोलो तो इक धुन बजने लगती है
दीवार पर चिपके हुए सब चेहरे अजनबी हो गये हैं
इक यह बन्द दरवाज़ा है कि दस्तक से महरूम है कब से
बोझल सांसें परदों में छुपकर सिसकने लगी हैं
और आईने में
इक बेज़ार चेहरा आहिस्ता से उभर रहा है
दो पथरायी हुई आंखों में एक आंसू अकेला
ख़ुद को देखकर सहम गया है
संभलते-संभलते गिर ही जाए न कहीं…

इस आईने का रुख़ उलट दो कोई
तनहाइयों को इस क़दर बेपर्दा कब देखना चाहा था हमने !

यादें
वो कल ही की बातें
माज़ी के मुबहम पर्दे पर
उभरती हैं
मिटती हैं
कौस-ए-क़ुज़ह के रंगों जैसी
हंसी मुलाक़ातें
दिल के कोनों में कहीं
रहा करती हैं
वो कल ही की बातें
खोयी हुई मुसकराहटों की
बिखरी-बिखरी तसवीरें
तसव्वुरात का आंचल थामे
आती हैं
जाती हैं
वादिए-शादाब में
वो थमी-थमी बरसातें
अकेलेपन को बहलाती हैं
वो कल ही की बातें
यादें
सोचती हूं
तनहाइयां ना होतीं तो क्या होता इनका ?

थको-थकी-सी ज़िन्दगी से दूर
कहीं दूर बहुत
जहां कांच की नीली कहकशां मिलती हो
आवारा ख्वाबों की तामीर मिलती हो जहां
मुसर्रतों के जहां ऐवां मिलते हों
जहां आंसुओं के बदले में मुसकराहटें खरीद लें
फूलों की महक
झरनों का तरन्नुम
सबा की पाकीजगी मिलती हो जहां
झीलों की ख्वाबनाक नींदें जहां खरीद लें
चाहत के मरमरी ताजमहल मिलते हों
मिलती हों मुहब्बत की मंज़िलें जहां

थको-थकी-सी ज़िन्दगी से दूर
कहीं दूर बहुत
ऐसी भी तो कोई आसूदा फ़ज़ाएं होंगी
ऐसा भी तो कोई चमनज़ार होगा
इन तनहाइयों की अज़ीयत ही तो इक हक़ीक़त ना होगी
कहीं तो ऐसा भी बाज़ार होगा !

कल की रात टुकड़ों में कटी
क़तरा-क़तरा वक़्त बीता
थकी-थकी बरसात में पर्दा भीगता रहा
अधूरी-सी नींद कई बार चौंककर उठ बैठी
बेख्वाब आंखें परछाइयों को चुनती रहीं
कोई नर्म-सी सरगोशी फिर यूं कानों में गूंजी
तुम्हारे होंठों से जैसे अपना नाम सुना हो मैंने
अचानक सोते में कहीं एहसास जाग उठा
मैंने करवट बदलकर तुम्हें छूना चाहा
मगर अल्लाह ! तुम नहीं थे···
क़तरा-क़तरा वक़्त बीता
कल की रात बड़ी मिन्नत से कटी

वो सितारा
जो रात गये
टूटकर गिरा है फ़लक से
मैंने उन कांच के टुकड़ों को
इस हथेली में बन्द कर लिया है
तमाम यादों में
तुम्हारी
एक और याद को शामिल कर लिया है
अब इस हथेली से जो टपकेगा
उसे लहू मत कहना !

बूढ़े पीपल की छांव तले होकर
भूत वाले मक़बरे से परे
टूटे हुए कुएं के आस-पास
गली-गली
मुंडेर-मुंडेर
'वेरके' वाली नहर के किनारे-किनारे
उफ़क़ पर गांव की सरहद तक जाकर
गन्ने के खेत की पगडंडी से आखिर
लौट रहा है
हारा-सा, गुमसुम-गुमसुम
अपनी आवाज़ ढूंढ़ने निकला था
एक नन्हा-सा ख़याल !

यह गोल घूमता हुआ शीशे का दरवाज़ा
अनजान चेहरे
परछाइयां···परछाइयां
आते-जाते हुजूम का शोर-शराबा
फिर किसी ने सिक्का फेंका
और वही गीत !
आवाज़ें यह अजीब, बेमानी, नावाक़िफ़-सी
थम के रह गयी हैं
वक़्त की रफ़्तार जैसे
उफ़ !
यह रेस्तरां की भीड़, और इन्तज़ार...इन्तज़ार···

आह ! यह मंज़र !

नीम के घने दरख्तों की नर्म पनाहों में
इक राह बिछी हुई है
मेरी ही मुन्तज़िर हो गोया
गुनगुनाती है शाखों में बादे-नसीम
सरगोशियां-सी गूंजती हैं फ़ज़ाओं में
यहीं से हुआ है शायद
आगाज़ हर सफ़र का…

जरा-सी देर तो चलने दो मुझे
इस खूबसूरत रहगुज़र पे
माना कि मंजिल इस तरफ नहीं !
मगर रूह को जब सुकून न हो
तो मंजिलों का क्या करे कोई…

चलो दौड़कर
ऊपर तक चढ़ जायें
वो ऊपर बस पहाड़ की चोटी तक
सड़क से हटकर
पगडंडियों से चलें वहां
जहां से दूर तक एक-एक करके
सारी वादियां खुलती चली जायेंगी
कोई नयी बस्ती नज़र आयेगी
कोई नया मंज़र होगा, देखना !
और फिर
इसके बाद
अगली चोटी तक चढ़ना होगा
किसी और बस्ती
किसी और वादी
किसी और मंज़र की तलाश में···

पत्थरों पर बहते हुए दरिया का शोर है
आसमान में ढेर सारे सितारे
जी यह चाहता है कि
यूं ही सर्दी में देर तक, बस बैठे-बैठे
सुनती रहूं इस तरन्नुम को
'कांगड़ी' में आंच अभी बाकी है
और आस-पास
कोई नहीं···

याद रह जायेगी यह रात
यह अंधेरे-से पहाड़ पर रोशनियों वाली रात
और अचानक सभी रोशनियों का बुझ जाना
यह जलती-बुझती-सी आज की रात

कहीं जो इस रात को तुम्हारी आवाज़ मिल जाती !

सूने-सूने-से आसमानों में
इक पंछी अकेला
उड़ा जाता है
डूबते हुए सूरज के अंधेरों-उजालों में दूर तक
पंखों पर बुझती हुई धूप लिये
लहरों के परे
उफ़क़ पर
रंगों की धूल-सी उड़ा करती है
और मैं
साहिल पर खड़ी
अक़सर यह सोचा करती हूं
कब यह पंछी लौटेगा ?
कब सहर होगी ?

इक यह रेलगाड़ी का शोर और खिड़की के बाहर
उफ़क़-ता-ब-उफ़क़ हरियाली की चादर
दरख़्तों की कतारें कहीं मिट्टी के घरौंदे
और एक जानिब पीपल के झुरमुटों की छांव में
ठंडे पानी के कुएं और रहट चलते हुए
फिर छोटे-छोटे तालाब कहीं
कोई अकेला-सा सफ़ेद मंदिर, मकबरा-सा खेतों में
और न जाने कितनी ही कच्ची राहें
हां…यह रेलगाड़ी का शोर !
क्यों न अगले स्टेशन पर उतर जाऊं ?
ऐसी ही कोई राह अपना लूं…
पक्के रास्ते सभी बंद इमारतों तक ले जायेंगे !

चाहत हो तुम, मैं रुसवाई
तुम आंधी और मैं सबा
आग़ाज़ तुम हो, मैं अंजाम
तुम खिज़ा, मैं काली घटा
हक़ीक़त तुम हो, ख्वाब हूं मैं
तुम पत्थर और मैं खुशबू
गीत हो तुम, मैं तनहाई

मेरे-तुम्हारे दरम्यां रहेंगे फ़ासले
ताक़यामत !

सुनसान महल के अंधेरे खंडहरों में
एक मुद्दत चलकर ठहर गया था आख़िर
कहां से आया था वो शख्स, मालूम नहीं
वीरान-सी नज़र थी ख़ाली-ख़ाली
और उन बेज़ार आंखों के पीछे कहीं
जाने ख़लाएं थीं या महज़ तनहाइयों के डेरे
या कि अक्स था किसी खोये हुए हमराह का
सहम जाता था ज़रा-सी जुम्बिश पर
कोई पासबां तो नहीं ?
नहीं···कोई पासबां नहीं···
उजड़े हुए मेहराबों के साये में खड़ा सुनता था
गुज़रे हुए वक़्त के बेआवाज़ कदमों की आहटें
ख़ुद से बातें करता था कभी शिकस्ता बामो-दर से
बेहिस झरोखों में ढूंढ़ रहा हो ज़िंदगी के मानी जैसे

बूंद-बूंद फिर रात कटी···
और रात कटी जब···
चेहरे पर सुकून का कफ़न ओढ़े
सुनसान महल से दूर निकलकर जा रहा था कोई
एहसास की पहली सहर तक

मखमली ढलानों पर आखिरी आवाज़ थम चुकी है चरवाहे की
दिन है कि दबे पांव गुज़र रहा है करीब से
सफ़ेद चोटियों पे रंग बिखेर रही है शफ़क़
नर्म हवाओं से गूंजती हुई वादी में
कहीं कच्चे रास्ते हैं, कहीं पानी की जैसे गलियां-सी
और खेल रही है गलियों में
डूबते सूरज की एक आखिरी किरण अभी तलक
यूं लगता है जैसे कांच पिघलकर बह रहा हो राहों में
गूंजने लगी हैं देखो, घंटियां कहीं मंदिर की
और सामने वाली चोटी से आ रही हैं सदाएं उस गिरजे से
दूर कहीं फिर मसजिद में लरज़ती हुई उठी है अजां
कैसी वस्ल की शाम है यह, पहले तो कभी देखी नहीं
इसी शाम की मुन्तज़िर थी शायद
ठहर गयी हूं चलते-चलते
कुदरत और ख़ुदा की अज़मत के आगे दिल झुक गया है
सजदे में !

कई मरतबा देखा है उसे
अपने ख्वाब में मैंने
रात के पहलू से जब
गुजरा करते हैं
ख़ामोशियों के काफ़िले
वादी के इस कोने में खड़े होकर
देखा है हर दफ़ा
धुंधला-सा इक चेहरा, आशनां
शानों पर वही काली-सी चादर ओढ़े
सामने की पगडंडी पर
हमेशा की तरह
कोई चला आता है मेरी जानिब
लेकिन मुझ तक पहुंचता नहीं
पहुंचता नहीं कभी···
कौन है यह शख्स
मालूम नहीं
लेकिन इतना जानती हूं
जिस रोज़ करीब से देखूंगी
पहचान लूंगी !

कोई लम्हा यूं भी गुज़र जाता है कभी
ना ख़याल कोई ज़हन में, ना आंखों में नींद
ना याद ही कोई भूले से आती है क़रीब
न दिन निकलता है, न रात ढलती है कहीं
न आहट ही सुनायी देती है कोई आशनां-सी
न ही किसी ख्वाब की लौ झिलमिलाती है
बस एक ही शै की जानिब, एक ही जगह
यह नज़र ठहर-सी जाती है, कुछ भी देखती नहीं
दामने-वक़्त से जुदा-जुदा, ज़िन्दगी से अजनबी
कोई लम्हा यूं भी गुज़र जाता है कभी
जैसे कि इस ज़िन्दगी का हिस्सा ही ना रहा हो !

उतार लो घंटियां सभी
गिरजों से, मंदिरों से
ख़ुदा का नाम तो रटते हैं
ख़ुदा का पास नहीं

बंदा करें अजां
यह कह दो मसजिद वालों से
वस्ले-ख़ुदाबंद !
यह इनके बस की बात नहीं

इन्सां तक पहुंचेंगे जिस रोज़
ख़ुदा के करीब होंगे

मेरे चारों तरफ यूं लगता है जैसे
कांच की दीवारें हैं
तमाम लोग मुझे देख तो सकते हैं
मगर सुन नहीं पाते
मेरी आवाज उन तक पहुंचती नहीं
वो भी शायद कुछ कहते होंगे, जाने क्या
देखा करती हूं बस मैं
इन बेहिस दीवारों के परे
अनगिनत मानूस चेहरे
जो हैरां-हैरां-से तकते हैं मुझे
मैं चिल्लाती हूं घबराकर
वो लोग मुझसे भी ऊंचा चिल्लाते हैं
और फिर परेशान हो जाते हैं
थक-सी जाती हूं मैं भी
मुमकिन है किसी रोज़ शायद
मैं अपनी ही बनायी इन कांच की दीवारों को
तोड़कर रेज़ा-रेज़ा कर दूं
और बिखरे हुए शफ़्फ़ाफ़ टुकड़ों से गुज़रकर
कहीं दूर निकल जाऊं…
जहां मैं बातें करूं और कहकशाएं सुना करें

कितने अफ़साने अधूरे रह जायेंगे
तमाम रातें जागा करेंगी
दर्द फ़र्सुदा चेहरों से उठकर
दिलों में घर बना लेंगे
गीत साज़ों पर खामोश पड़े रहेंगे
रोशनियों के सुराग़ न बचेंगे
मंज़िलों के इमकां न बाक़ी होंगे
उम्मीदें यूं ही मय्यत बनी रहेंगी
ख्वाबों के जनाज़े उठेंगे
आंखें ताहश्र तुम्हें ढूंढ़ा करेंगी
अगर तुम न होगे···

सफ़ेद कागज़ पे पानी से···
तुम्हारे नाम इक नज़्म लिखी है मैंने !

तिलिस्मी रातों पर जब चांद का पहरा होगा
तमाम उम्र सिमटकर जब
इक लम्हे में ढल जायेगी
कासनी अंधेरों के तले
जब कांच के धागों की तरह
पानी की रुपहली सतह पर
ख़ामोशी थिरकती होगी
और झील के उस किनारे पर मचलेंगी
चांद की सोलह परछाइयां
मैं इस पार बैठकर सुनाऊंगी तुम्हें
सफ़ेद कागज़ पे पानी से···
तुम्हारे नाम जो नज़्म लिखी है मैंने !

एक गीत जिसकी धुन याद नहीं
एक राह जो कहीं भी जाती न हो
एक किताब जिसका उनवान नहीं है
एक सफ़र जिसकी मुन्तहा, न मक़सद
न मुसाफ़िर ही कोई
एक नज़्म जो कभी लिखी न गयी
एक रात जो सहर तक पहुंची न हो

यूं ही कुछ आधी, कुछ अधूरी-सी है
ज़िन्दगी भी !

कई बार सोचा है
ज़हन की सभी गांठें तोड़कर
तुम्हारे पास चली आऊं
लेकिन
जब कभी तुम तक पहुंचना चाहा
वही रोशनियां
वही चेहरे
वही आवाज़ें तुम्हें घेरे हुए
कभी तो इन रोशनियों से हटकर
इस अंधेरे में आओ
मैं तुम्हारा चेहरा देखूं !

इक मोड़ छूट गया है
पीछे कहीं इसी रास्ते पर
मुड़कर जिधर से क़दम
मंज़िल तक पहुंच जाते
मुद्दत हो चली है तलाश में लेकिन
ऐसी एक भी राह नहीं
जो लौटकर उसी मोड़ तक जाती हो

यह सफ़र
जानती हूं
आखिरी मंज़िल पे लाकर
हमें
तनहा छोड़ देगा…
और
वो रोशनी
जिसकी तलाश
तुम्हें भी है
मुझे भी
उसी इक तनहाई के बाद मिलेगी जाकर
ज़रा-सी देर
मेरा हाथ थाम लो !
अभी राहों में अंधेरा है…

'बहुत घुटी-घुटी रहती हो…
बस खुलती नहीं हो तुम !'

खुलने के लिए जानते हो
बहुत से साल पीछे जाना होगा
और फिर वहीं से चलना होगा
जहां से कांधे पर बस्ता उठाकर
स्कूल जाना शुरू किया था
इस ज़हन को बदलाकर
कोई नया ज़हन लगवाना होगा
और इस सबके बाद जिस रोज़
खुलकर
खिलखिलाकर
ठहाका लगाकर
किसी बात पे जब हंसूंगी
तब पहचानोगे क्या ?

‘पालमपुर’ की पहाड़ियों में
शाम के वक़्त
लकड़ियां जलाकर
जब हम हाथ सेंकते होंगे
कितने ही लम्हे
आंखों में
पनाह ढूंढ़ते होंगे
दूर आसमानों में
आख़िरी रंग पिघलते होंगे
तुम चुप होगे
मैं चुप हूंगी
बस, इक आंच-सी आती होगी
शाम के वक़्त
‘पालमपुर’ की पहाड़ियों में

चलो दूर तक
अजनबी रास्तों पे पैदल चलें
कुछ न कहें···
अपनी-अपनी तनहाइयां लिये
सवालों के दायरों से निकलकर
रिवाजों की सरहदों के परे
हम यूं ही साथ चलते रहें
कुछ न कहें···
तुम अपने माज़ी का कोई जिक्र न छेड़ो
मैं भूली हुई कोई नज़्म न दोहराऊं
तुम कौन हो
मैं क्या हूं
इन सब बातों को···बस रहने दें
कुछ न कहें···
चलो दूर तक
अजनबी रास्तों पे पैदल चलें

आसमानों में बुझे हुए ख्वाबों का धुआं-सा
पस-मंज़र में कहीं-कहीं रोशनियां-सी जलती हैं

हदे-नज़र से परे जा रहा है कोई
एक लफ़्ज़ है, घुटकर रह गया है
दहलीज़ पर मेरे साथ ख़ामोशी खड़ी है

फिर से अपने पास लौट आऊंगी मैं
और जो लफ़्ज़ घुट के रह गया था
उसी लफ़्ज़ को लेकर
दिन के निकलने से पहले
एक और नज़्म लिखूंगी !

अजीब घुटन-सी है
गरमी तो है ही
सांस लेना भी मुश्किल
न मौसम बदलता है, न कुछ
बस वही चिपचिपा-सा माहौल

क्या दिन थे !
वो 'दिल्ली' की सरदियां
कम्बल ओढ़कर रातों में
अंगीठी के पास बैठे रहना
गरमी की छुट्टियां, और
'हिमाचल' के पहाड़
बरसातों में सड़क के किनारे
ढाबे की चाय !
पंजाब की खुली ज़मीनें
और खेतों में बैठकर
पक्की छल्लियां खाना
क्या दिन थे, सच !

Forget it ! बहुत सुना था
बम्बई के बारे में !

तड़के-तड़के निकले थे शहर से
सितारों को साथ लिये
किनारा मिला था
किसी झील का, ख़ामोश-सा
और मैंने तुम्हारे हाथों को छूकर
सिर्फ़ महसूस किया था
वो लम्हा
जो आहिस्ता से सरक आया था क़रीब
और एहसास बन गया था
उस लम्हे को फिर
साथ लेके चले थे
तड़के-तड़के जब शहर से निकले थे

यह महल
यह पहाड़
यह ख़ामोशी
यह बरामदा
यह रात
तुम
और लम्स तुम्हारे हाथों का

अब यहां नहीं आऊंगी मैं
इस रात को
बस, रख लूंगी पास हमेशा के लिए
यह 'निग्गी'-सी रात
जो तुम्हारी आग़ोश में मिली है

कभी जब सांस फूल जाती है
और हम कुछ कहते-कहते रुक जाते हैं
बस, तका करते हैं अपनी-अपनी सीमाओं को
उस वक़्त उन्हीं सीमाओं पर
एक भयानक शोर-ओ-गुल उठता है
कितने ही ख्वाब बेवक़्त कराहने लगते हैं
और हमारी आंखों के सामने दम तोड़ देते हैं !
सीमाएं रह जाती हैं लाशों से लदी
उजाड़, ख़ामोश
तब हम इन दायरों से ज़रा-सी देर को उठकर
अपनी-अपनी सीमाओं तक जाकर
ख्वाबों को हसीन लाशों पर कफ़न डाल देते हैं
और वापस बैठ जाते हैं
इन्हीं दायरों में···

बन्द हो तुम !
घुटी हुई…
एक सीप के अन्दर, बस
निकलना होगा

ख़ुद को अपनी ही नज़रों में गिराना होगा
ज़िन्दगी के तजुर्बों से भागने से नहीं चलेगा
कभी नहीं !
कभी नहीं आयेगी वो बात किसी किरदार में
चिनगारियां कभी पैदा नहीं होंगी तुम्हारी performance में
अपने को बचाना छोड़ो ! for God's sake !
बचते रहने की तुम्हारी यह आदत…उफ़ !

पत्थर मारकर जोर से आईना तोड़ दिया
यह तुमने
अच्छा किया…

रूह तनहा थी पहले भी
अब भी है तनहा-सी
पहले भी रास्ते सुनसान थे
अब भी कोई साया नहीं है दूर तक
भीगी हुई शाम थी किसी पहाड़ पर
मिली थी पहले भी अकेले-से सफ़र में
फ़र्क इतना है बस अब के
लोग कहते हैं तुम साथ चल रहे हो मेरे

पगडंडियां

सर्द !
तनहाई की रात
और कोई
देर तक चलता रहा
यादों की 'बुक्कल' ओढ़े···

गम
सिगरेट की तरह
देर तक जलते हैं
और जब बुझते हैं
तो धुआं-धुआं-सा रेंगता है सीने में···

अकेली होती गर उन वादियों में
तो कभी लौटकर ना आती
क्यों ख़याल बनकर साथ-साथ चलते रहे तुम ?

आज फिर इक सितारे को टूटते हुए देखा है फ़लक में
आज फिर इक नज़्म जागी है सीने में कहीं
आज फिर रात-भर जलेंगे बेख्वाब आंखों के चिराग़
आज फिर दिन को निकलते हुए देखना होगा

इस चार दिन की मुसाफ़त में
कहीं-न-कहीं तो मिलेगी वो जन्नत
जिसकी आरज़ू में चल रहे हैं हम
ज़िन्दगी से लेकर···मौत तक !

उफ़क़ पर
पीपल तले
इक मज़ार देखा है अभी

कहते हैं
कोई मुसाफ़िर था
पनाह ढूंढ़ता था

क्यों अपना आप मैला-सा लगता है जाने
सिर्फ़ नज़रें ही तो हैं, रोशनियों के पीछे खड़ी
यह रोशनियां !
जिनके लिए मैं कहां से कहां चलकर आयी

मैं
उस धूल की मानिन्द हूं
जिसे हवाएं
समेटती कभी बिखेरती हैं

कुछ लोगों को ज़िन्दगी से निकाला नहीं जाता
हां, रिश्ते बदल लिये जाते हैं।

जब बहुत कुछ कहने को जी चाहता है ना
तब कुछ भी कहने को जी नहीं चाहता···

तुम्हीं से शुरू तुम्हीं पे खत्म होती है हर नज़्म मेरी···
तुम ख़यालों से दूर जाओ तो कभी कुछ और भी लिखूं !

ज़रा फ़ासले पर पहुंचे
तो यह एहसास हुआ
कोई कितने करीब से गुज़रकर चला गया था

लोग एक ही नज़र से देखते हैं
औरत और मर्द के रिश्ते को
क्योंकि उसे नाम दे सकते हैं ना !
नामों से बंधे
बेचारे यह लोग

जाने कब किस मोड़ पर
हमराह बनी हैं तनहाइयां
हम तो समझे थे
अकेले ही हैं सफ़र में

यहां से 'नग्गर' तक

यहीं कहीं मिली हूं तुमसे पहले भी
बहुत पहले
यहीं कहीं तुमने वादा किया है फिर मिलने का
है ना !

तमाम रात
जल भी चुकी
बस एक क़तरा रोशनी का
बाक़ी है चिराग़ों में
यह भी बुझ जाए
तो कहीं दिन निकले !

शाम गुजरती है जब इस इलाक़े से
स्लेट की तिरछी छतों पर चमकते हैं
सुर्ख़ मकई के दाने
और वो नीचे पुलिया पर
बकरियों वाला है ना !
रोज़ यही धुन बजाया करता है बांसुरी पर
सिखर दोपहर से जलते साये
थककर
पांव पसार लेते हैं पेड़ों तले मुंह ढांपे

मैं इस बालकनी में आकर बैठ जाती हूं
और सुना करती हूं
अपने अन्दर की एक ख़ामोशी

कोई भी गुज़रता नहीं है इस तरफ़
तुम कैसे मिल गये थे मुझे यहां पहले
बहुत पहले ?

कोई 'टांवां-टांवां' रशनी है दूर तक पहाड़ों पर
चांदनी उतर आयी है बर्फ़ीली चोटियों से नीचे
तमाम वादी गूंजती है बस एक ही सुर में
ख़ामोशी की यह आवाज़
होती है
तुम कहा करते हो ना !
इस क़दर सुकून कि जैसे सच नहीं हो सब
यह रात चुरा ली है मैंने
अपनी ज़िन्दगी से, अपने ही लिए
और चुपके से तुम्हारे तसव्वुर में बिता दूंगी इसे !

गीले-गीले-से यह पहाड़ी रस्ते
और कितने क़रीब से गुज़र जाते हैं बादलों के क़ाफ़िले
पल-भर में लगता है शाम हो गयी जैसे
'नग्गर कासल' के इस बरामदे में बैठे हुए
यूं ही ख़याल आते हैं···कुछ-कुछ···
नीचे 'ब्यास' के परे एक-एक करके
बत्तियां जलने लगी हैं मकानों में
स्लेट की चिकनी छत से अभी तक
टप-टप गिर रही है एक बूंद बारिश की
मैंने सर्दी में सिमटकर एक और तह ओढ़ ली है कम्बल की
सूनी-सूनी पगडंडियां
और कोई आहट नहीं है दूर तलक
कितना सुकून है यहां
ख़याल आता है, यूं ही···
'काश जब मौत आए, तो ऐसी ही जगह आए !'

रात देर तक तनहा-सी रूह जागती थी
कुछ दूर देखा चीड़ के दरख्तों के परे
हल्की-सी सुबह काली कम्बल ओढ़े
'खड्ड' के किनारे पत्थर पर बैठी आग सेंकती थी
'निग्गी' रात में तनहा-सी सुबह···

कोई भी उतरा नहीं कच्चे रास्ते
कोई आहट नहीं हुई पुलिया पर
रात देर तक बठी रही 'पट्टू वाली' !

एक झल्ली-सी हुआ करती थी यहां
कहते हैं 'नग्गर' वाले
'पागल थी ! बस घूमती रैत्ती थी इद्दर ई···'
'जुबली' ने रात जाड़े में हाथ सेंकते हुए बताया
'क्या बताना जी ओसका ! बड़ी ऊमर होई चली थी
शादी नहीं थी होई ना···
बस, दमाग़ को कुछ होई गया'

क्या हुआ था उसे, मैंने आहिस्ता से पूछा
देर तक झुका रहा अंगीठी पे रामकृष्ण ढाबे वाला
फिर उठकर बोला—
'पता नहीं जी ओसका···
कोई कैत्ते हैं मर गयी इद्दर ई
फिर सुना था शहर ले गए घर वाले
बड़े घर की थी वो, मेमसाब !'
अच्छा ?

लेकिन हुआ क्या था उसको ?
'किसको मेमसाब ?'
चौकीदार ने कॉफी का प्याला मेज़ पर रखा
वही···वो जो···एक झल्ली-सी हुआ करती थी ना यहां ?
'वोऽऽऽ
परली पहाड़ी पर घर था जिसका ?
बड़े दु:ख की बात होई गयी जी ऐस इलाके में
एक दोपहर की बात है
भाग निकली थी घर से वो लड़की
तपती सड़क पर !

वदन पर ओस बख़्त कपड़ा तक नहीं था
मां थी, रोते-रोते भाग रई पीछे
गिड़गिड़ाती रई···बुलाती रई
'अरे, कोई रोको !'

लोग भागे थे कई मगर पकड़ सका ना कोई बी
फिर एक जगह जाकर झाड़ियों में फंस गयी
सांस फूल गयी थी
थक के गिर गयी बेचारी
और 'नग्गर' वालों ने निकालकर पट्टू
ढांप दिया था लड़की को
बस ओस दिन के बाद···
क्या पता जी क्या···'

शाम उसी मकान तक होकर आयी हूं
परली पहाड़ी तक
काफ़ी का प्याला मेज़ पर पड़े बासी हो चला है
नीचे ब्यास के पानियों से शां···शां की आवाज़
यहां तक आ रही है
चौकीदार ने बत्ती बुझा दी है गेट वाली
जुगनू-से टिमटिमाते हैं पुल के परे···शायद 'कटराईं' है
रात गहरी हो चली है, और जाड़ा भी
नींद नहीं है···

जाने क्या हुआ था उसे
वो झल्ली-सी जो हुआ करती थी यहां
यह पहाड़ ही जानते होंगे···
नहीं ?●

[redacted] Rs [redacted]

ایک دام

لمحہ لمحہ
(شاعری)

